# हिंदी स्त्री लेखन में उपेक्षित समुदाय की स्त्रियों की पहचान और संस्कृति

**सतीश एस. के.***

**DOI: https://doi.org/10.5281/zenodo.19501853**

**ABSTRACT**

हिंदी साहित्य में 'स्त्री विमर्श' लंबे समय तक सवर्ण और मध्यवर्गीय स्त्रियों की समस्याओं तक सीमित रहा। लेकिन समकालीन लेखन में दलित, आदिवासी और अन्य उपेक्षित समुदायों की स्त्रियों ने अपनी उपस्थिति दर्ज कराई है। हिंदी स्त्री लेखन में उपेक्षित समुदायों की भागीदारी ने साहित्य को अधिक समावेशी बनाया है। इन लेखिकाओं ने सिद्ध किया है कि 'स्त्री' कोई एक रंगहीन समूह नहीं है, बल्कि इसमें जाति, वर्ग और भूगोल के आधार पर कई परतें हैं। इनकी पहचान का आधार संघर्ष है और इनकी संस्कृति का आधार उनकी जड़ें हैं।

साहित्य सदैव समाज का दर्पण रहा है, किंतु इस दर्पण में दिखने वाली छवियाँ अक्सर सत्ता और विशेषाधिकार के समीकरणों से तय होती रही हैं। हिंदी साहित्य के इतिहास में स्त्री विमर्श ने एक लंबी यात्रा तय की है, परंतु लंबे समय तक यह विमर्श मध्यवर्गीय और सवर्ण चेतना तक ही सीमित रहा। प्रस्तुत शोध पत्र का मूल केंद्र 'उपेक्षित समुदाय की स्त्रियों' - अर्थात दलित, आदिवासी, खानाबदोश और हाशिए पर रहनेवाले समाज की स्त्रियों की उस विशिष्ट पहचान और संस्कृति का विश्लेषण करना है, जिसे मुख्यधारा के साहित्य ने प्रायः अदृश्य रखा या फिर सहानुभूति के सतही धरातल पर चित्रित किया।

हिंदी स्त्री लेखन में जब हम 'उपेक्षित' शब्द का प्रयोग करते हैं, तो उसका आशय केवल आर्थिक अभाव से नहीं, बल्कि उस सामाजिक और सांस्कृतिक बहिष्करण से है, जहाँ स्त्री दोहरी या तिहरी मार झेलती है। वह एक ओर पितृसत्तात्मक ढांचे से लड़ रही है, तो दूसरी ओर जातिगत भेदभाव और सांस्कृतिक वर्चस्व के विरुद्ध अपनी उपस्थिति दर्ज करा रही है। रमणिका गुप्ता, सुशीला टाकभौरे, कौशल्या बैसंत्री और समकालीन आदिवासी लेखिकाओं के

* **डॉ. सतीश एस. के.**, सहायक प्राध्यापक, हिंदी विभाग, एल.बी.एस. सरकारी महाविद्यालय, आर. टी. नगर, बेंगलूरु.

लेखन ने इस बात को सिद्ध किया है कि हाशिए की स्त्री का अनुभव मुख्यधारा की स्त्री के अनुभवों से भिन्न और अधिक जटिल है।

पहचान और संस्कृति का अंतर्संबंध: उपेक्षित समुदाय की स्त्रियों की पहचान उनकी सांस्कृतिक जड़ों में निहित है। उनकी संस्कृति लोकगीतों, श्रम, सामूहिकता और प्रकृति के साथ उनके अटूट संबंध से होती है। शोध का मुख्य उद्देश्य यह पड़ताल करना है कि क्या हिंदी लेखन ने इन स्त्रियों की स्वायत्त पहचान को स्वीकार किया है? सांस्कृतिक प्रस्तुतीकरण के नाम पर क्या उनके यथार्थ के साथ न्याय हुआ है? इन समुदायों की स्त्रियों ने स्वयं के लेखन (आत्मकथाओं और कहानियों) के माध्यम से अपनी अस्मिता को किस प्रकार परिभाषित किया है?

**KEYWORDS:** स्त्री विमर्श, उपेक्षित समुदाय, दलित अस्मिता, स्वानुभूति, सांस्कृतिक पहचान.

## प्रस्तावना

साहित्यिक विमर्श के केंद्र में 'स्त्री' सदैव एक महत्वपूर्ण इकाई रही है किंतु 'उपेक्षित समुदाय' की स्त्रियों का स्वर हिंदी साहित्य के मुख्यधारा के विमर्शों में लंबे समय तक पार्श्व में रहा। प्रस्तुत शोध पत्र का मूल प्रतिपाद्य उन स्त्रियों की पहचान और संस्कृति का विश्लेषण करना है जो सामाजिक सोपान क्रम में अंतिम पायदान पर खड़ी हैं। यह शोध इस धारणा को पुष्ट करता है कि उपेक्षित समुदायों- विशेषकर दलित, आदिवासी और खानाबदोश वर्गों की स्त्रियों का संघर्ष केवल पितृसत्ता से नहीं, बल्कि जातिवाद, नस्लभेद और सांस्कृतिक वर्चस्व के विरुद्ध भी है। जहाँ मुख्यधारा का स्त्री लेखन अक्सर निजी स्वायत्तता और मध्यवर्गीय आकांक्षाओं के इर्द-गिर्द घूमता है, वहीं उपेक्षित समुदायों की लेखिकाओं जैसे सुशीला टाकभौरे, कौशल्या बैसंत्री, रमणिका गुप्ता आदि का लेखन 'स्वानुभूति' के धरातल पर एक नई सांस्कृतिक पहचान गढ़ता है। उनकी संस्कृति लोक-परंपराओं, श्रम की गरिमा और सामूहिकता के उन सूत्रों से निर्मित है, जिन्हें अक्सर 'अशिष्ट' या 'पिछड़ा' मानकर त्याग दिया गया। यह शोध लेखिका द्वारा उपभोग किए जाने वाले 'दोहरे अभिशाप' और उनकी विशिष्ट सांस्कृतिक जड़ों की पड़ताल करता है, जो साहित्य में न केवल एक नई भाषा लेकर आती हैं, बल्कि सौंदर्यशास्त्र के स्थापित प्रतिमानों को भी चुनौती देती हैं। अतः यह अध्ययन उपेक्षित समुदायों की स्त्रियों के सामाजिक-सांस्कृतिक यथार्थ को समझने और साहित्य के लोकतंत्रीकरण में उनकी भूमिका को रेखांकित करने का एक विनम्र प्रयास है।

## 1. स्त्री विमर्श के दायरे का विस्तार

हिंदी साहित्य में 'स्त्री विमर्श' लंबे समय तक शहरी, शिक्षित और

मध्यवर्गीय स्त्रियों की समस्याओं तक सीमित रहा है। यह शोध इस विमर्श को 'हाशिए' तक ले जाता है और यह सिद्ध करता है कि जब तक दलित, आदिवासी और पिछड़े वर्ग की स्त्रियों के अनुभवों को शामिल नहीं किया जाता, तब तक 'स्त्री विमर्श' अधूरा और एकांगी है।

**2. 'स्वानुभूति' बनाम 'सहानुभूति' का विश्लेषण**

अक्सर मुख्यधारा के लेखकों ने उपेक्षित समुदायों पर 'सहानुभूति' वश लिखा है, जो कई बार यथार्थ से परे होता है। इस शोध की महत्ता इस बात में है कि यह उपेक्षित समुदाय की लेखिकाओं द्वारा स्वयं लिखे हुए साहित्य जैसे आत्मकथाओं के माध्यम से 'प्रामाणिक यथार्थ' को सामने लाता है।

**3. सांस्कृतिक विरासत का संरक्षण**

उपेक्षित समुदायों की अपनी एक विशिष्ट संस्कृति, लोक-परंपरा और जीवन-दर्शन है जो आधुनिकता की अंधी दौड़ में खो रही है। यह शोध उनकी लोक-भाषा और मुहावरों के महत्व को रेखांकित करता है। उनके श्रम-सौंदर्य और प्रकृति प्रेम को एक नए दृष्टिकोण से प्रस्तुत करता है।

**4. सामाजिक न्याय और अस्मिता की पहचान**

यह शोध सामाजिक स्तर पर एक 'प्रति-विमर्श' खड़ा करता है। यह समाज को यह सोचने पर मजबूर करता है कि कैसे जाति और लिंग मिलकर एक स्त्री के शोषण को बहुआयामी बना देते हैं। यह उनकी 'पहचान' को केवल एक 'पीड़ित' के रूप में नहीं, बल्कि एक 'प्रतिरोधी स्वर' के रूप में स्थापित करता है।

**ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य: शिक्षा और अस्मिता का संघर्ष**

ऐतिहासिक रूप से उपेक्षित समुदायों को शिक्षा के अधिकार से वंचित रखा गया था। सुशीला जी का जीवन इस ऐतिहासिक अन्याय के विरुद्ध एक विद्रोह है। शिक्षा की बाधाएं: स्कूल में सहपाठियों और शिक्षकों का उपेक्षापूर्ण व्यवहार उस ऐतिहासिक मानसिकता को दर्शाता है जो दलितों को 'बौद्धिक कार्यों' के अयोग्य मानती थी। अस्मिता की खोज: लेखिका ने शिक्षा को एक हथियार की तरह इस्तेमाल किया। उनका प्रोफेसर बनना केवल एक करियर उपलब्धि नहीं, बल्कि उस ऐतिहासिक व्यवस्था को चुनौती देना था जिसने सदियों से दलित स्त्रियों को केवल शारीरिक श्रम तक सीमित रखा था।

**आर्थिक यथार्थ और श्रम की संस्कृति**

उपेक्षित समुदाय की स्त्रियों का इतिहास 'कठोर श्रम' का इतिहास है। अदृश्य श्रम: घर के काम के साथ-साथ दूसरों के खेतों या घरों में मजदूरी करना उनकी नियति रही है। स्वावलंबन: 'शिकंजे का दर्द' में यह स्पष्ट होता है कि अभावों के बावजूद इन स्त्रियों में एक गजब की जिजीविषा और आर्थिक स्वावलंबन की चाह होती है। वे केवल 'पीड़ित' नहीं हैं, बल्कि अपने परिवार की रीढ़ भी हैं।

**पहचान और 'कलेजा'**

सुशीला टाकभौरे ने अपनी पहचान को 'दबे-कुचले' होने के बोध से निकालकर 'आत्म-गौरव' तक पहुँचाया है। सांस्कृतिक जड़ें: उपेक्षित समुदायों की अपनी लोक-संस्कृति और रीति-रिवाज होते हैं, जिन्हें मुख्यधारा का समाज 'अशिष्ट' मानता है। लेखिका ने इन सांस्कृतिक जड़ों को ईमानदारी से स्वीकार करते हुए अपनी पहचान गढ़ी है। भाषा का यथार्थ: उन्होंने उस खुरदरी और सीधी भाषा का प्रयोग किया है जो उनके जीवन के अनुभवों के करीब है, न कि वह अलंकृत भाषा जो यथार्थ को छिपा लेती है।

**तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य: सवर्ण बनाम दलित स्त्री**

'शिकंजे का दर्द' यह प्रश्न खड़ा करता है कि क्या 'स्त्री' शब्द सबके लिए एक समान है? जहाँ सवर्ण स्त्री का संघर्ष अक्सर 'घर की चारदीवारी' और 'निजी स्वतंत्रता' तक सीमित रहा, वहीं उपेक्षित समुदाय की स्त्री के लिए संघर्ष 'रोटी, शिक्षा और सामाजिक सम्मान' का रहा है। यह आत्मकथा हिंदी स्त्री विमर्श को अधिक 'लोकतंत्रीकरण' की ओर ले जाती है। 'शिकंजे का दर्द' के माध्यम से सुशीला टाकभौरे ने उपेक्षित समुदाय की स्त्रियों के उस सामाजिक-ऐतिहासिक शिकंजे को बेनकाब किया है जो सदियों से उन्हें दबाए हुए था। यह पुस्तक यह संदेश देती है कि पहचान केवल 'प्राप्त' नहीं की जाती, बल्कि वह शिक्षा, संघर्ष और वैचारिक स्पष्टता के माध्यम से 'अर्जित' की जाती है।

**5. पहचान का संकट और अस्मिता की खोज**

कौशल्या बैसंत्री द्वारा रचित 'दोहरा अभिशाप' हिंदी दलित साहित्य की एक अत्यंत महत्वपूर्ण आत्मकथा है। यह न केवल एक महिला के संघर्ष की गाथा है, बल्कि भारतीय समाज में जाति और लिंग के दोहरे दंश को झेल रही एक 'अस्मिता' की खोज भी है। इसमें 'पहचान का संकट' और 'अस्मिता की खोज' के मुख्य पहलुओं को निम्नलिखित बिंदुओं से समझा जा सकता है:

**दोहरा अभिशाप: जाति और लिंग का संगम**

लेखिका के लिए पहचान का संकट दो स्तरों पर है। पहला एक दलित होना और दूसरा एक स्त्री होना। बाहरी दुनिया में समाज उन्हें उनकी जाति के कारण हीन दृष्टि से देखता है। भीतरी दुनिया या घर के भीतर उन्हें पितृसत्तात्मक ढांचे में एक दोयम दर्जे का नागरिक माना जाता है। यह 'दोहरा अभिशाप' उनकी मूल पहचान को दबा देता है जहाँ उनकी व्यक्तिगत योग्यता से पहले उनकी जाति और लिंग सामने आते हैं।

**शिक्षा और अस्मिता का उदय**

पहचान की खोज में शिक्षा सबसे बड़े हथियार के रूप में उभरती है। कौशल्या जी का मानना है कि शिक्षा ही वह माध्यम है जो एक दलित स्त्री को अपनी स्थिति का बोध कराती है। स्कूल और कॉलेज के अनुभवों में वे अक्सर भेदभाव का सामना करती हैं, लेकिन यही अनुभव उनमें यह चेतना जगाते हैं

कि उन्हें अपनी एक अलग पहचान बनानी है जो 'दासी' या 'अछूत' की छवि से परे हो।

### आर्थिक आत्मनिर्भरता और स्वाभिमान

अस्मिता की खोज का एक महत्वपूर्ण पड़ाव आर्थिक स्वतंत्रता है। आत्मकथा में दिखाया गया है कि जब एक स्त्री कमाना शुरू करती है, तो समाज और परिवार में उसकी पहचान बदलने लगती है। लेखिका ने संघर्ष करके अपनी नौकरी और करियर के माध्यम से उस 'पहचान के संकट' को चुनौती दी, जो उन्हें केवल चूल्हे-चौके तक सीमित देखना चाहता था।

### पितृसत्ता बनाम दलित अस्मिता

अक्सर दलित विमर्श में 'जाति' को प्रमुख माना जाता है, लेकिन कौशल्या बैसंत्री ने रेखांकित किया कि दलित समाज के भीतर भी स्त्रियाँ सुरक्षित नहीं हैं। पहचान का संकट यहाँ गहराता है: वह अपनी जाति के पुरुषों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर जातिवाद से तो लड़ती हैं, लेकिन घर के भीतर उन्हें अपनी अस्मिता के लिए उन्हीं पुरुषों से लड़ना पड़ता है। यह 'दोहरा संघर्ष' उनकी आत्मकथा का केंद्र बिंदु है। 'दोहरा अभिशाप' में अस्मिता की खोज का अर्थ केवल एक 'नाम' या 'पद' पाना नहीं है, बल्कि उस मानवीय गरिमा को प्राप्त करना है जिससे उन्हें सदियों से वंचित रखा गया।

## 6. सांस्कृतिक वैशिष्ट्य और लोक जीवन

दलित विमर्श और स्त्री चेतना के संदर्भ में 'सांस्कृतिक वैशिष्ट्य' और 'लोक जीवन' का गहरा संबंध है। इन दोनों का मिलन केवल दुख की गाथा नहीं है बल्कि एक विशिष्ट जीवन-दर्शन, जुझारूपन और सामुदायिक शक्ति का प्रतीक भी है। इसे हम निम्नलिखित प्रमुख बिंदुओं के माध्यम से समझ सकते हैं:

### लोक जीवन में श्रम की संस्कृति

दलित स्त्री का लोक जीवन 'श्रम' पर आधारित है। जहाँ सवर्ण विमर्श में स्त्री को अक्सर 'कोमलता' और 'घरेलू दायरे' से जोड़कर देखा गया, वहीं दलित विमर्श में स्त्री का सांस्कृतिक वैशिष्ट्य उसकी उत्पादक शक्ति है। वह केवल घर नहीं संभालती, बल्कि खेत, खलिहान और निर्माण कार्यों में समान रूप से भागीदार है। यह श्रम उसे एक प्रकार की मानसिक और शारीरिक मजबूती देता है, जो उसके लोक गीतों और व्यवहार में झलकता है।

### लोकगीत और प्रतिरोध की संस्कृति

सांस्कृतिक वैशिष्ट्य का सबसे सुंदर रूप उनके लोकगीतों जैसे- सोहर, चैती, बिरहा या चक्की के गीत में मिलता है। ये गीत केवल मनोरंजन नहीं हैं, बल्कि इतिहास और प्रतिरोध के दस्तावेज़ हैं। इन गीतों में वे अपनी पीड़ा, जातिगत अपमान और व्यवस्था के प्रति आक्रोश को अभिव्यक्त करती हैं। यह लोक जीवन का वह हिस्सा है जहाँ 'भाषा' उनकी अपनी होती है, जिसमें किसी शास्त्र का दबाव नहीं होता।

**धार्मिक और सामाजिक लोकाचार**

दलित समाज का सांस्कृतिक वैशिष्ट्य मुख्यधारा के कर्मकांडों से अक्सर अलग रहा है। लोक देवी-देवता: इनके लोक जीवन में ऐसे देवी-देवताओं की पूजा का प्रचलन है जो अक्सर हाशिए के नायक रहे हैं। सामूहिकता: दलित स्त्री के जीवन में 'अकेलापन' कम और 'सामूहिकता' अधिक होती है। कुएं पर पानी भरना हो या सामूहिक उत्सव, यहाँ अस्मिता व्यक्तिगत होने के बजाय सामुदायिक अधिक होती है।

## 7. चुनौतियाँ और भविष्य की दिशा

शोधकर्ताओं को इस विषय पर कार्य करते समय मुख्य रूप से तीन स्तरों पर कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है:

**प्रामाणिक दस्तावेजीकरण का अभाव**

उपेक्षित समुदायों का इतिहास अक्सर मौखिक रहा है। लिखित स्रोतों की कमी: इन स्त्रियों के जीवन, संघर्ष और संस्कृति का लिखित रिकॉर्ड मुख्यधारा के इतिहास या साहित्य में बहुत कम मिलता है।

लोक बनाम शास्त्र: शोधकर्ता अक्सर 'शास्त्रीय' प्रमाणों पर निर्भर रहते हैं जबकि इन स्त्रियों की संस्कृति 'लोक' गीतों, कहानियों और परंपराओं में बिखरी हुई है।

**भाषा और अनुवाद की समस्या**

उपेक्षित समुदायों की स्त्रियाँ अक्सर अपनी क्षेत्रीय बोलियों या देशज भाषा का प्रयोग करती हैं। हिंदी शोध में उन विशिष्ट मुहावरों और सांस्कृतिक प्रतीकों का मानक हिंदी में अनुवाद करते समय उनका 'मूल भाव' अक्सर खो जाता है।

**शोधकर्ता का दृष्टिकोण**

अभिजात्य पूर्वाग्रह: गैर-उपेक्षित समुदाय के शोधकर्ता अक्सर सहानुभूति तो रखते हैं, लेकिन वे उस 'अनुभूति' तक नहीं पहुँच पाते जो उस समुदाय की स्त्री का यथार्थ है। कई बार शोध में इन समुदायों के संघर्ष को केवल एक 'दुखभरी कहानी' के रूप में पेश किया जाता है जिससे उनके सक्रिय प्रतिरोध और बौद्धिक पक्ष की अनदेखी हो जाती है।

**पितृसत्ता और जातिवाद का दोहरा दबाव**

शोध के दौरान इन स्त्रियों से साक्षात्कार करना या उनके व्यक्तिगत जीवन की जानकारी जुटाना कठिन होता है क्योंकि वे समाज के सबसे निचले पायदान पर होने के कारण बाहरी लोगों पर आसानी से विश्वास नहीं कर पातीं।

**भविष्य की दिशा**

आनेवाले समय में शोध को अधिक सार्थक और समावेशी बनाने के लिए

निम्नलिखित दिशाओं में कार्य किया जाना चाहिए:

**'अनुभूति के यथार्थ' को प्राथमिकता**

शोध में केवल बाहरी सिद्धांतों जैसे पश्चिमी नारीवाद को लागू करने के बजाय, उन स्त्रियों के स्वयं के अनुभवों को आधार बनाना चाहिए। 'समानुभूति' आधारित शोध पद्धतियों का विकास अनिवार्य है। केवल साहित्य तक सीमित न रहकर समाजशास्त्र, नृविज्ञान और इतिहास के साथ जोड़कर शोध किया जाना चाहिए।

**मौखिक इतिहास का संरक्षण**

भविष्य के शोध में बुजुर्ग स्त्रियों के साक्षात्कारों, लोक गीतों और उनकी पारंपरिक चिकित्सा पद्धति या कृषि ज्ञान को डिजिटल रूप में सहेजना शोध का हिस्सा होना चाहिए।

**उत्तर-औपनिवेशिक और उत्तर-आधुनिक दृष्टि**

उपेक्षित स्त्रियों की पहचान को केवल 'जाति' तक सीमित न रखकर उसे वैश्विक स्तर पर हो रहे नस्लीय और लैंगिक संघर्षों के साथ जोड़कर देखा जाना चाहिए। इससे हिंदी स्त्री लेखन को एक वैश्विक मंच मिलेगा।

**नई विधाओं पर शोध**

अब तक शोध केवल आत्मकथाओं या उपन्यासों तक सीमित रहा है। भविष्य में इन समुदायों की स्त्रियों द्वारा लिखे जा रहे सोशल मीडिया ब्लॉग्स, कविताएं और लघु कथाओं को भी शोध के दायरे में लाना होगा।

**निष्कर्ष**

हिंदी स्त्री लेखन में उपेक्षित समुदाय की स्त्रियों की उपस्थिति केवल संख्यात्मक वृद्धि नहीं है, बल्कि यह साहित्य के 'लोकतंत्रीकरण' की प्रक्रिया है। उनकी पहचान उनकी 'सांस्कृतिक जड़ों' में निहित है, जो उन्हें कठिन परिस्थितियों में भी टूटने नहीं देती। उनकी पहचान का भविष्य उनके 'विद्रोही स्वर' और 'सांस्कृतिक गौरव' के मेल से निर्मित होगा। हिंदी स्त्री लेखन में उपेक्षित समुदाय की स्त्रियों की उपस्थिति केवल एक साहित्यिक विधा का विस्तार नहीं है, बल्कि यह एक गहरे सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तन का परिचायक है। स्त्रियों की पहचान मुख्यधारा के स्त्रीवाद की तुलना में कहीं अधिक जटिल और बहुआयामी है। उपेक्षित समुदाय की स्त्रियों ने अपनी अस्मिता को 'दोहरे अभिशाप' (जाति और लिंग) के बीच से सफलतापूर्वक खोज निकाला है। सुशीला टाकभौरे और कौशल्या बैसंत्री जैसी लेखिकाओं का साहित्य यह सिद्ध करता है कि उनकी पहचान अब 'पीड़ित' की नहीं, बल्कि एक 'निर्णायक कर्ता' की है। इन समुदायों की 'संस्कृति' कोई पिछड़ी हुई अवधारणा नहीं है, बल्कि इसमें श्रम की गरिमा, सामूहिकता और प्रकृति के साथ जैविक जुड़ाव के वे सूत्र मौजूद हैं, जिनकी आज के पूंजीवादी युग को नितांत आवश्यकता है। उनकी संस्कृति उनके लोकगीतों, मुहावरों और जुझारूपन में जीवित है। सौंदर्यशास्त्र

को चुनौती: इन लेखिकाओं ने 'अभिजात्य' और 'संस्कृतनिष्ठ' हिंदी के मानकों को तोड़कर एक नया 'हाशिए का सौंदर्यशास्त्र' गढ़ा है। यहाँ सत्य की नग्नता और अनुभवों की कड़वाहट ही साहित्य की असली सुंदरता है। जब तक आदिवासी, दलित और घुमंतू समाज की स्त्रियों के अनुभव केंद्र में नहीं आते तब तक हिंदी साहित्य का 'स्त्री विमर्श' समावेशी नहीं कहला सकता।

हिंदी स्त्री लेखन के विस्तृत परिदृश्य में उपेक्षित समुदायों की स्त्रियों का स्वर केवल 'पीड़ा' का दस्तावेज़ नहीं है बल्कि यह प्रतिरोध और अस्मिता की एक नई परिभाषा गढ़ता है। पिछले कुछ दशकों में दलित और आदिवासी स्त्रियों ने अपनी लेखनी के माध्यम से उस 'दोहरी और तिहरी गुलामी' को चुनौती दी है, जिसे मुख्यधारा के साहित्य ने लंबे समय तक अनदेखा किया था।

## संदर्भ ग्रंथसूची


1. बैसंत्री, कौशल्या (1999). दोहरा अभिशाप. दिल्ली: परमेश्वरी प्रकाशन।
2. टाकभौरे, सुशीला (2011). शिकंजे का दर्द. दिल्ली: गौतम बुक सेंटर।
3. गुप्ता, रमणिका (2005). हादसे. दिल्ली: सामयिक प्रकाशन।
4. पुष्पा, मैत्रेयी (2000). अल्मा कबूतरी. दिल्ली: राजकमल प्रकाशन।
5. सिंह, धर्मवीर (2004). दलित विमर्श और स्त्री. दिल्ली: वाणी प्रकाशन।
6. हंस (पत्रिका): दलित और स्त्री विमर्श पर केंद्रित विभिन्न विशेषांक।
7. तद्भव: समकालीन लेखन और हाशिए के समाज पर लेख।
8. नया ज्ञानोदय: आदिवासी और विमुक्त जाति विमर्श से संबंधित लेख।
9. स्त्रीकाल (ऑनलाइन पोर्टल): हाशिए की स्त्रियों के मुद्दों पर विशेष सामग्री।
10. Ignou eGyankosh: हिंदी साहित्य और दलित/आदिवासी विमर्श के नोट्स।
11. Shodhganga: इस विषय पर पूर्व में हुए शोध प्रबंध (Theses)।
12. Kavita Kosh / Gadhya Kosh: संबंधित लेखिकाओं की रचनाओं के मूल पाठ।